

प्रगतिशील आलोचक : आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

डॉ. राधाकृष्ण

एसोशिएट प्रोफेसर, के०ए०(पी०जी०) कॉलेज, कासगंज, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

“वही साहित्य सच्चा साहित्य है, जो समाज की प्रगति में सहायक होता है” की उद्घोषणा करने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने एक सच्चे प्रगतिशील समीक्षक के रूप में अपने आप को स्थापित किया। वे कहते हैं कि— “मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ। जो बागजाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, उसके हृदय को परदुःखकातर और संवदेनशील न बना सके उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।”¹ वे साहित्य को मनुष्य के लिए और केवल मनुष्य के लिए होने का संकेत देते हैं। वे कहते हैं कि साहित्य का सृजन आत्मपरक, व्यक्तिपरक, जातिपरक, विचारपरक, या पूर्वग्रहों से युक्त नहीं होना चाहिए क्योंकि मनुष्यता सबसे बड़ा वाद है, इससे अधिक बड़ा विचार कोई हो ही नहीं सकता। उनकी स्पष्ट धारणा है कि मनुष्य जितना अधिक मनुष्य होता है, उतना ही अधिक वह दूसरों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकता है। इस तथ्य को अन्तिम तर्क—संगत परिणाम तक ले जाया जाये तो कह सकते हैं कि, ‘एकत्व की अनुभूति’ ही मनुष्य की चरम मनुष्यता है।² द्विवेदी जी के इस एकत्व अधिक गहराई से समझना होगा, वह एकत्व जो संगठित हो, वह एकत्व जो सामाजिकता की दृष्टि से एकरस हो, वह एकत्व जो मनुष्य मात्र को विभाजित न होने दे, वह एकत्व जो दूसरे की पीड़ा को अपनी पीड़ा समझे, लेकिन आचार्य द्विवेदी इतने पर संतुष्ट नहीं हुए उन्होंने इससे भी आगे की अवधारणा स्थापित की। उन्होंने कहा कि यह ‘एकत्व’ ‘महाएक’ है। अपने इस ‘महाएक’ को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि “संसार में स्वार्थ एवं ईर्ष्या प्रेरित संघर्ष समाप्त करना है तो समूचे समाज को इस ‘महाएक’ की साधना करनी होगी”³ यह साधना जितनी अधिक विकसित होगी उतनी ही मनुष्य की मनुष्यता निखरती जाएगी। उसको आत्मतोष प्राप्त होगा। वह आनन्द का अनुभव करेगा। उसका यह आनन्द अन्तस में अटाए नहीं अटेगा और साहित्य के माध्यम से व्यक्त करेगा।⁴

आचार्य द्विवेदी अपने ज्ञान की राह में किसी विचार या वाद को बाधक नहीं मानते। वे प्रगतिशील चिन्तन के पक्षधर हैं। वे कहते हैं कि— “साहित्य के क्रम विकास में यदि प्रगतिवाद का मार्क्सिय तत्व ज्ञान भी जीवन को आगे बढ़ाने के प्रेरणा दे तो वह भी ग्राह्य है। अपने देश की चिन्तन परम्परा न तो उथली है, न संकीर्ण, इसलिए इस नए तत्व वाद को उसमें आसानी से खपाया जा सकता है।”⁵ वे साहित्य के आलोचकों को स्पष्ट दिशा—निर्देश देते हुए कहते हैं कि— “हम व्यर्थ के इस पचड़े में न पड़ जाए कि कोई चीज कहीं तक — भारतीय— अ भारतीय आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी है तो वह भारतीय हो या न हो स्वीकार्य है, आध्यात्मिक हो या न हो ग्राह्य है।”⁶ संकीर्णता और स्वार्थ से ऊपर उठकर सड़ी—गली सामाजिक मान्यताओं और परम्पराओं का साहित्य में विरोध ही नहीं होना चाहिए बल्कि साहित्यकार का नैतिक कर्तव्य है कि वह स्वयं आगे आकर इस व्यवस्था को उखाड़ फेंके — वे अपनी बात को सुस्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हैं कि “आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही

नहीं है, उस सड़ी हुई समाज व्यवस्था को बदल देने का भी है, जो अच्छी बातों को सुनाने में बाधक है”⁷ द्विवेदी जी साहित्य में सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों का मूलाधार ‘मनुष्य— सत्य’ को ही मानते हैं। वे कहते हैं कि “इस युग में मनुष्य ने धर्म पर संदेह किया। ईश्वर पर संदेह किया, परम्परासमर्थित नैतिक दृष्टिभंगी पर संदेह किया, परिपाटी विहित रसज्ञता पर संदेह किया परन्तु फिर भी युग अपूर्व विश्वास का युग है क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर अविश्वास नहीं किया।”⁸ “मनुष्य की जीवनी शक्ति बड़ी निर्भय है वह सभ्यता और संस्कृति के वृथा मोहों की रौंदती चली आ रही है। न जाने कितने धर्मचारों, विष्वासों, उत्सवों और वृत्तों को धोती— बहाती यह जीवन—धारा आगे बढ़ी है। संघर्षों से मनुष्य ने नई शक्ति पाई है।⁹ उसे नई धारा मिली है, उसे नया अनुभव और अभिव्यक्ति मिली है। यही नयापन या नव्यता जीवन को और अधिक ऊर्जावान बनाती है। इस नई ऊर्जा शक्ति ने मानव को जब स्थापित किया तो “हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है— सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की ममता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी।”¹⁰ आचार्य द्विवेदी किसी वाद—विवाद के ढांचे में बंधकर रहने की भूमिका नकारते हैं। वे स्वयं कहते हैं कि— “प्रगतिशील एक व्यापक शब्द है किन्तु ‘प्रगतिवाद’ एक निश्चित तत्ववाद को सूचित करता है।”¹¹ वे आलोचना में विध्वंसक तत्वों को बढ़ावा न देकर विधायक रूप पर ही शक्ति लगाना उचित समझते हैं। कवियों तथा साहित्यकारों की आलोचना में उन तत्वों का ही खुलकर विवेचन किया गया है जो समाज को विकसित करने में समर्थ हुए हैं।¹² “द्विवेदी जी प्रगतिशील साहित्य का अपना निजी अर्थ प्रकट करते हैं। उनकी दृष्टि में यह बिल्कुल गलत धारणा है कि सभी प्रगतिवादी रचनायें मार्क्सवादी विचारधारा का समर्थन और प्रचार करती हैं। कम्युनिस्ट भावों का प्रचार करने वाली समस्त रचनाएँ प्रगतिशील कहीं जाने लगी हैं। आज समय आ गया है कि इन सभी रचनाओं का विप्लेषण करें ठीक—ठाक समझ लिया जाये कि प्रगतिशील वस्तुतः कौन सी है। वे स्वयं इन शब्दों में प्रगतिशील शब्द और साहित्य का अर्थ लगाते हैं जिनमें मानवता की परिपुष्टि होती है।”¹³ वे कहते हैं — “बिना किसी झिझक के यहाँ कह दूँ कि मैं उन रचनाओं को किसी प्रकार प्रगतिवादी मानने का तैयार नहीं हूँ जिनमें संसार को नए सिरे से, उत्तम रूप में ढालने का दृढ़ संकल्प न हो, जो रचना केवल हमारी मानसिक चिन्ताओं का विप्लेषण करने का दावा करके हमें जहाँ का तहाँ छोड़ देती है, उसमें गति ही नहीं है। उसे प्रगतिशील तो कहा ही नहीं जा सकता”¹⁴ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण प्रगतिशील था। वे संस्कृति, साहित्य और समाज में प्रगतिशील विचारों के पोषण के पक्षधर थे— वे स्वयं कहते हैं— परस्पर विराधी मान्यताओं से टकराते हुए उन्होंने ‘आर्य संस्कृति’, ‘हिन्दु संस्कृति’ और उसकी शुद्धता, ‘संग्राहकता’ जैसी अवधारणाओं का विकास कर एक ऐसी ‘सामाजिक संस्कृति’ की अवधारणा का विकास किया जिसका अन्तिम लक्ष्य था— विष्व संस्कृति की प्रतिष्ठा। इस सम्बन्ध में अपनी संस्कृति सम्बन्धी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने

लिखा है— “मैं संस्कृति को किसी देश विशेष या जाति विशेष की मौलिकता नहीं मानता। मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव संस्कृति हो कसती है। यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी है।” (अपोक के फूल) निष्चय ही सांस्कृतिक सम्बन्धों की अर्न्तर्देशीय सम्भावना की तलाश के पीछे उनका गतिशील चिन्तन और उदार दृष्टिकोण विद्यमान है। आचार्य द्विवेदी ऐसे लोगों से पूरी तरह असहमत हैं जो व्यापक ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव में किसी खास मतवाद या विचारधारा को ही हिन्दू रीति-नीति मानकर बनी इकहरी समझ से हिन्दू संस्कृति की व्याख्या करते हैं। ऐसे लोग अपने वर्तमान समाज की ज्वलन्त समस्याओं की ओर से आँखें मूंदकर अतीत के गौरवगान में ही खोखरे रहते हैं और अपने शुद्धतावादी अहंकार के कारण किसी भी प्रकार के सामाजिक परिवर्तन और गतिशील चिन्तन को देखकर वे भड़क उठते हैं।” हमारे यहाँ उनका आमेघ ब्रह्मास्त्र है जिससे किसी को भी धरापायी किया जा सकता है। “पाष्वात्य-विचारों का प्रभाव उनका ऐसा बहुधा विघोषित निन्दावाक्य है कि जिस किसी विचार को परास्त करने के लिए यह एक वाक्यांश बहुत काफी समझा जा सकता है।” यह प्रायः ही भुला दिया जाता है कि हमारे यहाँ कोई छोटा-मोटा ज्ञान रत्नाकर नहीं है। किसी एक ही विचार को भारतीय विचार कह देना न केवल अपनी अल्पज्ञता का प्रदर्शन करना है बल्कि अपने देश की विषाल ज्ञान-परम्परा का अपमान करना भी है। “संस्कृति” जातिगत और देशगत संस्कारों का संग्रह नहीं, बल्कि उनके बिगड़ने और बनने की परम्परा है। अतः ‘हमारे यहाँ’ वाला यह प्रबल संस्कार विवेक को दबोचकर अन्ततः वर्जनशीलता का सीमित दायरा बनाकर उसमें शुद्धता के अहंकार को जन्म देता है। इसलिए क्षुब्ध होकर आचार्य द्विवेदी लिखते हैं— “देश और जाति की विशुद्ध संस्कृति केवल बात की बात है। सब कुछ मिलावट है, सब कुछ अविषुद्ध है। शुद्ध है केवल मनुष्य की जिजीविषा। वह गंगा की अबाधित-अनहित धारा के समान सब कुछ को हजम करने के बाद भी पवित्र है।

इस प्रकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में भारत की सांस्कृतिक परम्परा एक विकासशील प्राणधारा है और इसीलिए वे चिन्तित हैं कि “आज हमारे भीतर जो मोह है, संस्कृति और कला के नाम पर ओ आषक्ति है, धर्माचार और सत्यनिष्ठा के नाम पर जो जड़िमा है” उससे कैसे मुक्त हुआ जाये। संस्कृति को एक अखण्ड-शाश्वत परम्परा मानकर उसे प्रति आसक्त आज के भावुक समाज को ध्यान में रखते हुए उन्होंने लिखा है “आज जिसे हम बहुमूल्य संस्कृति मान रहे हैं, क्या ऐसी ही बनी रहेगी? सम्राटों सामन्तों ने जिस आचार निष्ठा को इतना मोहक और मादक रूप दिया था, वह लुप्त हो गई, धर्माचार्यों ने जिस ज्ञान और वैराग्य को इतना महान समझा था, वह समाप्त हो गया।

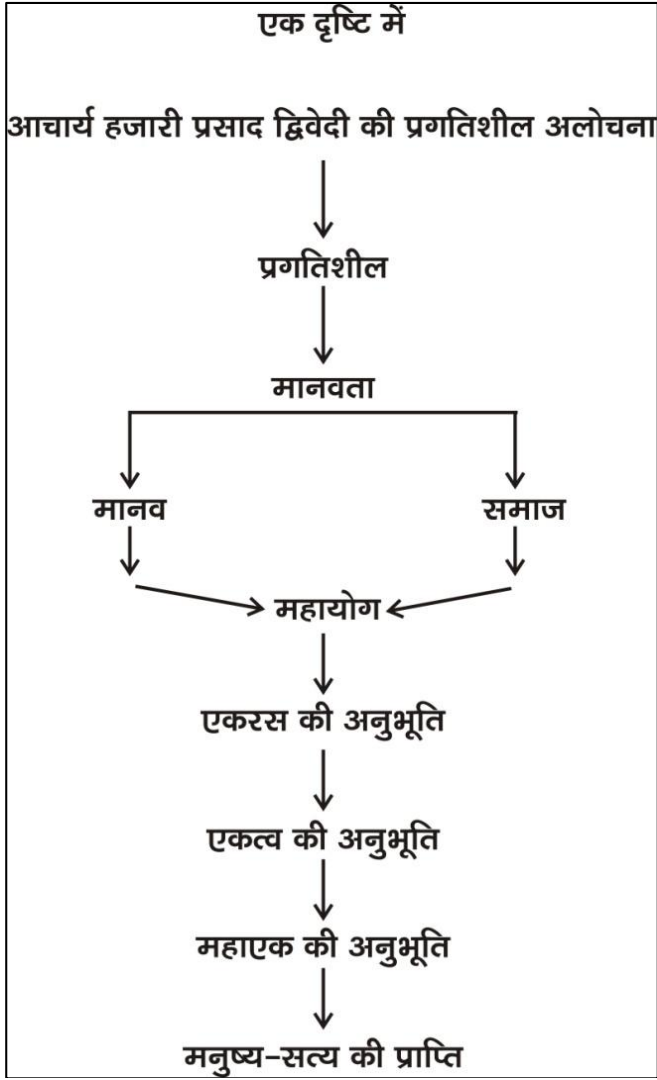
आचार्य द्विवेदी देखते हैं कि करोड़ों की संख्या में दलितों का अस्तित्व वर्णाश्रम व्यवस्था की गति को अवरुद्ध कर चुका है। शताब्दियों से जिन्हें पैरों के नीचे दबाया गया था, आज उन्होंने पैर पकड़ रखा है। सामाजिक परिवर्तन की क्रान्तिकारी चेतना समाज को आन्दोलित कर रही है। इस क्रान्तिकारी परिवर्तनों को धार्मिक दुष्टि से देखने वाला भावुक सम्प्रदाय शास्त्रों के द्वारा इनका समाधान करना चाहता है। उसे लगता है कि यह सब शास्त्रमर्यादा, जातिमर्यादा और धर्म-मर्यादा के लुप्त हो जाने का परिणाम है।

इसलिए “धर्म के नाम पर हरिजनों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जा रहा है, स्त्रियों के पैरों की जूतियों से भी अधम स्थान दिया जा रहा है गरीब जनता के रक्तकणों का सत्त्व लाखों और करोड़ों में शुमार की जाने वाली सम्पत्ति मठों, मन्दिरों, तीर्थों और यज्ञों के रूप में स्वाहा की जा रही है न जाने क्या-क्या अनर्थ हो रहा है। धर्म के नाम हमने जो व्यवस्था कायम की थी, वह ढह चुकी है, बरबाद हो गई है।”¹⁷

उन्होंने लिखा है “इस देश में बहुत से साधुमना व्यक्ति हैं, जो समझते हैं कि वेद पढ़ा देने या जनेऊ पहना देने से इन जातियों का उद्धार हो जायेगा। बहुत से लोग इनका छुआ अन्न ग्रहण कर लेने के कारण अपने को बड़ा सुधारवादी समझते हैं। यह मनोवृत्ति उचित नहीं है। जन जागृति जिस दिन सचमुच होगी, उस दिन ऊँची मर्यादा वाले इनका उद्धार नहीं करेंगे, ये स्वयं अपनी मर्यादा उच्च बनायेंगे। वह एक अपूर्व समय होगा। जब शताब्दियों से पददलित, निर्वाक, निरन्न जनता समुद्र की लहरियों के फूत्कार के समान गर्जन से अपना अधिकार माँगेगी, उस दिन हमारी सभी कल्पनाएँ न जाने क्या रूपधारण करेंगी, जिसे हम ‘भारतीय सभ्यता’, ‘हिन्दु संस्कृति’ आदि अस्पष्ट भुलाने वाले शब्दों से प्रकट किया करते हैं। निःसन्देह यह जागृति धर्म और समाज सुधार का सहारा नहीं लेगी। वह आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों पर कब्जा करेगी।”¹⁸

डॉ० मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है— “यह ठीक है कि वर्तमान की आँख से ही अतीत और भविष्य को देखते हैं, लेकिन नवीनता के नभ में झूमने वाले ऐसे अन्धे आधुनिकतावादी नहीं हैं जिनका कोई कल (न बीता हुआ और न आने वाला) नहीं होता, केवल वर्तमान होता है और वर्तमान का भी केवल क्षण होता है। द्विवेदी जी इतने उतावले कान्तिकारी भी नहीं हैं जो अतीत और वर्तमान को भूलकर केवल भविष्य के सपनों में खोया रहता है।” यही कारण है कि आचार्य द्विवेदी, जीवन के गम्भीरतम समझे जाने वाले प्रज्ञों से टकराते समय अतीत, वर्तमान और भविष्य के विकासशील सम्बन्धों को सदैव याद रखते हैं।

विष्व इतिहास की स्वाभाविक दिशा को पहचानने में आचार्य द्विवेदी अपने वर्तमान युग की सामाजिक सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार करते हैं और पाते हैं कि पूर्व और पश्चिम के दोनों क्षेत्रों में जनता की शक्ति बढ़ी है और साम्राज्यवादी शक्तियाँ हतवीर्य होती गई हैं। “इतिहास विधाता की योजना उन ‘बुद्धिमानों’ की योजना से बिल्कुल भिन्न मालूम पड़ रही है, जो जनशक्ति को दबाकर मनमानी करना चाहते हैं। सम्पूर्ण जगत की जनजागृति को देखकर जहाँ अपार आनन्द होता है, वहाँ दुष्चिन्ता अपनी ओर देखकर हो रही है। क्या हम जन-जागृति को सहन करने योग्य शक्ति पा सकते हैं। प्रसाद द्विवेदी की सामने यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यावसायिक युग के कमल को पुष्ट करने वाली साम्राज्यवादी शक्तियाँ अब अपार जनशक्ति को दबाकर मन-मानी नहीं कर सकती। ‘काल्पनिक भारतमाता का जय निनाद’ करने वाले भोले लोगों के लिए भारतवर्ष अर्थविहीन एक शब्द मात्र रह गया है। वे यह समझने का प्रयत्न ही नहीं करते कि “भारतवर्ष उन करोड़ों दलित और मूक जनता से अभिन्न हैं, जिन्हें छूने से भी पाप अनुभव किया जाता है” इसी मूक जनता की आवाज उठाना और दिल खोलकर उनका पक्ष प्रस्तुत करना, आचार्य द्विवेदी की सांस्कृतिक चेतना का मूल स्वर है।¹⁹



आकृति 1

निश्चित ही आचार्य द्विवेदी प्रगतिशील विचारों के उन्नायक ही नहीं हैं बल्कि आलोचना के क्षेत्र में ही भी वे प्रगतिशीलता के पक्षधर हैं। उनके अपने साहित्य में ही नहीं, उनकी आलोचना में भी उनकी प्रगतिशील दृष्टि परिलक्षित है।

‘संदर्भ सूची’

1. अषोक के फूल— पृ0 166 ।
2. विचार प्रवाह— पृ0 212 ।
3. विचार प्रवाह— पृ0 211 ।
4. रविन्द्रनाथ टैगोर ।
5. आधुनिक साहित्य पर विचार पृ0 51 ।
6. विचार और वितर्क— पृ0 192-93 ।
7. हमारी साहित्यिक समस्याएँ— पृ0 98 ।
8. गृथावली - भाग 9— पृ0 23 ।
9. वही ।
10. विचार प्रवाह - पृ0 190 ।
11. हिन्दी साहित्य— पृ0 495 ।
12. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी - व्यक्तित्व साहित्य— डॉ0 गणपति चन्द्र गुप्त— पृ0 39 ।
13. वही - पृ0 181 ।
14. सावधानी की आवश्यकता - पृ0 43 ।

15. डॉ0 चौथीराम यादव— आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य— पृ0 82-83 ।
 16. डॉ0 चौथीराम यादव - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य— पृ0 83 ।
 17. डॉ0 चौथीराम यादव - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य— पृ0 86 ।
 18. डॉ0 चौथीराम यादव - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य— पृ0 87 ।
 19. डॉ0 चौथीराम यादव - आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का साहित्य— पृ0 89 ।
- प्रकाषक— हरियाणा साहित्य अकादमी— चण्डीगढ़